गत जीवन में जिसने बाँधा पुण्य रहा औ पाप रहा ।
बिना दिये फल वह यदि गलता तप का वह फल आप रहा ॥
वह शुचि उपयोगी है योगी उसे शीघ्र शिवधाम मिले ॥
पुनः कर्म का आस्रव नहिं हो ज्ञान ज्योति अभिराम जले ॥२४६॥

महा सुतप मय विशाल सरवर नयन मनोहर वह साता ।
उजल-उजल तम शान्त शान्त तम गुणमय जल से लहराता ॥
नियम रूप जो बाँध बँधी है किन्तु कभी वह ना फूटे ।
रहा उपेक्षित मत उससे तुम नहिं तो जीवन ही लूटे ॥२४७॥

मुनि का मुनिपद घर है जिसके सुदृढ़ गुप्तित्रय द्वार रहें ।
मतिमय जिसकी नींव रही है धैर्य रूप दीवार रहें ॥
किन्तु कहीं भी दोष छिद्र यदि उसमें हो तो घुसते हैं ।
राग रोष मय कुटिल सर्प वे भय से मुनिगण नशते हैं ॥२४८॥

कठिन कठिनतर विविध तपों को तपता तापस बनकर है ।
पूर्ण मिटाने निज दोषों को पूर्ण रूप से तत्पर है ॥
पर दोषों को अपना भोजन बना अज्ञ यदि जीता है ।
निज दोषों को और पुष्ट कर रहता सुख से रीता है ॥२४९॥

विधिवश शशि सम कलंक गुणगण-धारक को यदि लगता ।
मूढ़ अन्ध भी सहज रूप से उसको बस लखने लगता ॥
दोष देखकर भी वह उसकी महानता को कब पाता ? ।
स्वयं प्रकट शशि कलंक लख भी विश्व कभी शशि बन पाता ? ॥२५०॥

विगत काल में जो कुछ हमने किया कराया मरण किया ।
बिना ज्ञान अज्ञान भाव से प्रेरित हो आचरण किया ॥
क्रम-क्रम से इस विध योगी को वस्तु तत्त्व प्रतिभासित हो ।
ज्ञान भानु का उदय हुवा हो अँधकार निष्कासित हो ॥२५१॥



जिनके मन की जड़ वह ममता-जल से भींगी जब तक है ।
महातपस्वी जन की आशा-बेल युवती ही तब तक है ॥
अनशन आदिक कठिनी चर्या अतः करें वे बुधजन हैं ।
चिर परिचित उस निजी देह से निरीह रहते निशिदिन है ॥२५२॥

क्षीर नीर आपस में मिलकर एक रूप ही दिखते हैं ।
यथार्थ में तो भिन्न-भिन्न ही लक्षण अपने रखते हैं ।
उसी भाँति तन आतम भी हैं भिन्न भिन्न फिर सही बता ।
धन कण आदिक पूर्ण भिन्न हैं फिर उनकी क्या रही कथा ॥२५३॥

स्वभाव से जल यद्यपि शीतल अनल योग पा जलता है ।
तप्त हुवा हूँ देह योग से सता रही आकुलता है ॥
इस विध चिंतन बार-बार कर भव्य जनों ने तन त्यागा ।
शान्त हुए विश्रान्त हुए हैं जिनमें अनन्त बल जागा ॥२५४॥

समय समय पर समान बल ले वृद्धि पा रहा नहीं पता ।
कब से बैठा मन में मदमय महामोह है यही व्यथा ॥
समीचीन निज परम योग से उसका जिनने वमन किया ।
भावी जीवन उनका उज्ज्वल उनको हमने नमन किया ॥२५५॥

भव सुख तजने को सुख गिनते विधि फल सुख को आपद है ।
तन क्षय को मनवांछित मिलना निसंगपन को संपद है ॥
दुख भी सुख भी सब कुछ सुख है जिन्हें साधु वे सही सुधी ।
सब कुछ लूटे किन्तु मनावे मृत्यु महोत्सव तभी सुखी ॥२५६॥

सुबुध उदय में असमय में ला तप से विधि को खपा रहें ।
स्वयं उदय में विधि यदि आता खेद नहीं विधि कृपा रहें ॥
विजय भाव से रिपु से भिढ़ने लड़ने भट यदि उद्यत हो ।
खुद रिपु चढ़ आता तब फिर क्या हानि लाभ ही प्रत्युत् हो ॥२५७॥

ल संग तज एकाकी निर्भ्रान्त दमी ।
कारण इस विध सोच लाज वश क्लान्तयमी ॥
अकाय बनने आसन दृढ़कर ध्यान करें ।
अभय सिंह सम मोह रहित निज ज्ञान धरें ॥२५८॥

शलातल जिनका भूषण निज तन पर जो धूल लगी ।
सिंह वह गुफा गेह हैं शय्या धरती शूलमयी ॥
मम यह मैं विकल्प छोड़े मोह ग्रन्थियाँ सब तोड़े ।
शुद्ध करें मम मन को ज्ञानी निरीह शिव से मन जोड़े ॥२५९॥

जिनमें अतिशय तप बल से वर ज्ञान ज्योति वह उदित हुई ।
किसी तरह भी निज को पाये तप्त चेतना मुदित हुई ॥
चपल सभय मृग अचल अभय हो वन में जिनको लखते हैं ।
धन्य साधु चिरकाल बिताते अचिन्त्य चारित रखते हैं ॥२६०॥

आशा आतम में जो अन्तर अज जनों को ज्ञात नहीं ।
उस अन्तर को ज्ञात किये बिन होते बुध विश्रान्त नहीं ॥
बाह्य विषय से हटा मनस को निज में नियमित अचल रहें ।
शम धन धारे उन मुनि पद रज मम मन को अति विमल करें ॥२६१॥

पूर्व जन्म में बँधा शुभाशुभ कर्म वही बस दैव रहा ।
वही उदय में आता सुख दुख पाता तू स्वयमेव अहा ॥
स्तुत्य रहें शुभ करते केवल किन्तु वन्द्य वे मुनिजन हैं ।
शुभाशुभों को पूर्ण मिटाने तजे संग धन परिजन हैं ॥२६२॥

सुख होता या दुख होता जब किया कर्म का स्वफल रहा ।
हर्ष भाव क्यों खेद भाव क्यों करना, करना विफल रहा ॥
इस विध विचार, विराग यदि हो नया बँध ना फिर बनता ।
पूर्व कर्म सब झड़े साधु तब मणि सम मंजुलतर बनता ॥२६३॥



पूर्ण विमल निज बोध अनल वह देह गेह में जनम लिया ।
यथा काष्ठ को अनल जलाता अदय बना तन भसम किया ॥
हुई राख तन तदुपरान्त भी उद्दीपित हो जलता है ।
विसमय-कारक साधु चरित है पता न बल का चलता है ॥२६४॥

गुणी रहा जो वही नियम से विविध गुणों का निलय रहा ।
विलय गुणों का होना ही बस हुवा गुणी का विलय रहा ॥
अतः "मोक्ष" गुण गणी विलय ही अन्य मतों का अभिमत है ।
रागादिक की किन्तु हानि ही "मोक्ष" रहा यह "जिनमत" है ॥२६५॥

निज गुण कर्त्ता जिन सुख भोक्ता अमृत सुख से पूर रहें ।
केवलज्ञानी जनन दुःख से तथा मरण से दूर रहें ॥
काय कर्म से मुक्त हुए प्रभु लोक शिखर पर अचल बसे ।
अंतिम तन आकार जिन्होंका असंख्य देशी विमल लसे ॥२६६॥

कर्म निर्जरा लक्ष्य बनाकर तप में अन्तर्धान रहें ।
तब कुछ दुख निश्चित हो तापस किन्तु उसे सुख मान रहें ॥
शुद्ध हुए फिर सिद्ध हुए हैं अविनश्वर सुखधाम हुए ।
वे किस विध फिर सुखी नहीं हो, जिन्हें स्मरें कृत काम हुए ॥२६७॥

इस विध कतिपय शुभ वचनों का माध्यम मैंने बना लिया ।
बुध मन रंजक कृत्य रहा है विषयों से मन बचा लिया ॥
शिव सुख पाने करते मन में इसका चिंतन अविकल हैं ।
मिटे आपदा मिले संपदा उन्हें शीघ्र सुख निर्मल है ॥२६८॥

परम पूत आचार्य दिगंबर वीतराग जिनसेन रहें
जिनके पद की स्मृति में जिसका मानस रत दिन रैन रहे ॥
वही रहा गुणभद्र सूरि, कृति आतम अनुशासन जिनकी ।
सुधा सिन्धु है पीते मिटती क्लान्ति सभी बस तन मन की ॥२६९॥

## मंगल कामना

विषद पूर्ण मम ज्ञान हो विभाव मुझ से दूर ।
ध्यान विषय का तज स्मरूँ स्वभाव सुख से पूर ॥१॥

साधु बने समता धरो समयसार का सार ।
गति पंचम मिलती तभी मिटती हैं गति चार ॥२॥

रति पति भी अति भीत हो यति पति पद में लीन ।
विराग समकित का यही सुफल बनो रति हीन ॥३॥

रहूँ रमूँ निज में सदा भ्रमूँ न पर में भूल ।
चिदानन्द का लाभ लूँ पर तो सब कुछ धूल ॥४॥

तब तक जिन स्तुति में करूँ जब तक घट में प्राण ।
गुणनिधि बनना ध्येय हो अघ की पल में हान ॥५॥

नोबत दुख की अब नहीं आयेगी मतिमान ।
दया-धर्म उर धारता शिवपथ पर गतिमान ॥६॥

यम दम शम औ सम धरो क्रमशः कम श्रम होय ।
है जिनवर का वर यही "मत" मन में मम होय ॥७॥

### भूल क्षम्य हो

लेखक कवि में हूँ नहीं मुझ में नहिं ज्ञान ।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ शोध पढ़े धीमान ॥

### गुरू स्मृति

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋशीष ।
करुणाकर करुणा करो कर से दो आशीष ॥

### समय एवं स्थान परिचय

संगमुक्त मुक्ता गिरी पर ससंघ इस वर्ष ।
धारा वर्षायोग है पाया आत्मिक हर्ष ॥१॥

काल गगन गति गंध की कार्तिक कृष्णा तीज ।
पूर्ण किया इस ग्रंथ को भुक्ति-मुक्ति का बीज ॥२॥

# रयणमंजूषा

मूल : रत्नकरण्डक श्रावकाचार
रचनाकार : आचार्य समन्तभद्र स्वामी
पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

# रयण मंजूषा

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पंचम गति होय॥१॥

चन्दन चन्दर चाँदनी से जिन धुनि अति शीत।
उसका सेवन मैं करूँ मन वच तन कर नीत॥२॥

कुन्दकुन्द को नित नमूँ हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में जीवन मम घुल जाय॥३॥

महके अगुरु सुगन्ध है श्री गुरु समन्तभद्र।
श्रीपद में अर्पित रहे गन्धहीन मम छन्द॥४॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो कर से दो आशीष॥५॥

रतनकरण्डक का करूँ पद्यमयी अनुवाद।
मात्र प्रयोजन मम रहा मोह मिटे परमाद॥६॥

बाहर भीतर श्री से युत हो वर्धमान गतमान हुए,
विराग-जल से राग-मलिनता धुला स्वयं छविमान हुए।
झलक रहा सब लोक सहित नभ जिनकी विद्या दर्पण में,
मन वच तन से जिन चरणों में करूँ नमन मुनि अर्पण मैं॥१॥

भव-सागर के दुःख गर्त से ऊपर भविजन को लाता,
उत्तम, उन्नत मोक्ष-महल में स्थापित करता, सुख धाता।
धर्म रहा वह समीचीन है वसु विध विधि का नाशक है,
करूँ उसी का कथन मुझे अब बनना निज का शासक है॥२॥

समदर्शन औ बोध चरितमय धर्म रहा यह ज्ञात रहे,
इस विध करुणा कर हम पर वे धर्म-नाथ जिननाथ कहें ।
किन्तु धर्म से, मिथ्या-दर्शन आदिक वे विपरीत रहें,
भव पद्धति हैं भव-दुःख के ही निशिदिन गाते गीत रहें ॥३॥

परमारथमय पूज्य आप्त में परमागम अघहारक में,
श्रद्धा करना भाव-भक्ति से तथा परम तपधारक में ।
वसुविध अंगो का पालन, त्रय मूढ़पना; वसु मद तजना,
वही रहा समदर्शन है नित रे 'मन समदर्शन भजना' ॥४॥

लोका-लोकालोकित करते पूर्ण ज्ञान से सहित रहें,
विरागता से भरित रहे हैं दोष अठारह रहित रहें ।
जगहित के उपदेशक ये ही नियम रूप से आप्त रहें,
यही आप्तता नहीं अन्यथा जिन-पद में मम माथ रहे ॥५॥

क्षुधा नहीं है तृषा नहीं है जरा जनन नहिं खेद नहीं,
रोक शोक नहीं राग रोष नहिं तथा मरण नहिं स्वेद नहीं ।
निद्रा, चिन्ता, विस्मय नहिं है भीति अरति नहिं गर्व रहा,
मोह न जिनमें आप्त रहे वे जिनपद में जग सर्व रहा ॥६॥

परमेष्ठी हैं परम ज्योतिमय पूर्ण-ज्ञान के धारी हैं,
विमल हुए कृत-कृत्य हुए हैं वीतराग अविकारी हैं ।
आदि मध्य औ अन्त रहित हैं विश्व-विज्ञ जग-हितकारी,
वे ही शास्ता कहलाते हैं सदुपदेश के अधिकारी ॥७॥

भविक जनों का हित हो देते सदुपदेश स्वयमेव विभो,
प्रतिफल की वांछा न रखते वीतराग जिनदेव प्रभो !
वाद्यकला में पण्डित शिल्पी मुरज बजाता, बजता है,
मुरज[1] माँगता नहीं कभी कुछ यही रही अचरजता है ॥८॥

१. मृदंग



प्रत्यक्षादिक अनुमादिक प्रमाण से अविरोधित हो,
वीतराग सर्वज्ञ कथित हो नहीं किसी से बाधित हो ।
एकान्ती मत का निरसक हो सब जग का हितकारक हो,
अनेकान्तमय तत्त्व-प्रदर्शक शास्त्र वही अघहारक हो ॥९॥

विषयों से अति दूर हुए हैं कषायगण को चूर किया,
निरारम्भ हैं पूर्ण रूप से सकल संग को दूर किया ।
ज्ञान-ध्यान मय तप में रत हो अपना जीवन बिता रहे,
महा-तपस्वी कहलाते वे हमें मनस्वी बना रहे ॥१०॥

तत्त्व रहा जो यही रहा है इसी तरह ही तथा रहा,
नहीं अन्य भी तथा रहा है नहीं अन्यथा यथा रहा ।
खड्ग धार पर थित जल-कण सम अचल सुपथ में रुचि करना,
शंका के बिन निःशंक बनकर सम-दर्शन को शुचि करना ॥११॥

कर्मों पर जो निर्धारित है स्वभाव जिसका सान्त रहा,
सुख-सा दिखता किन्तु दुःख से भरा हुआ निर्भ्रान्त रहा ।
पाप बीज है इन्द्रिय-सुख यह इसमें अभिरुचि ना करना,
अनाकांक्षमय अंग रहा है समदर्शन का सुख झरना ॥१२॥

स्वभाव से ही अशुचि धाम हो रहा अचेतन यह तन हो,
रत्नत्रयी का योग प्राप्त कर पूज्य पूत पुनि पावन हो ।
ग्लानि नहीं हो मुनि-मुद्रा से गुण-गण के प्रति प्रीति रहे,
निर्विचिकित्सिक अंग यही है समदर्शन की रीति रहे ॥१३॥

भटकाने वाले कुत्सित पथ दुखदायक जो बने हुए,
विषयों में अति सने हुए हैं पथिक कुपथ के तने हुए ।
तन, मन, वच से इनकी सेवा अनुमति थुति भी नहीं करना,
यही दृष्टि है अमूढ़पन की प्राप्त करो शिव-सुख वरना ॥१४॥

स्वयं रहा शुचितम शिव-पथ जिस पर चलते बिन होश कभी,
अज्ञ तथा निर्बल जन यदि वे करते हैं कुछ दोष कभी ।
उनके उन दोषों को ढकना कभी प्रकाशित नहिं करना,
उपगूहन दृग अंग रहा है अनंग-सुख-प्रद उर धरना ॥१५॥

समदर्शन या पावन चारित यद्यपि पालन करते हैं,
खेद कभी यदि उनसे गिरते बाधक कारण घिरते हैं ।
धर्म-प्रेम से विज्ञ उन्हें बस पूर्व-स्थिति पर फिर लाते,
स्थितिकरण दृग अंग वही है अपनाते निज घर जाते ॥१६॥

कुटिल भाव बिन जटिल भाव बिन साधर्मी से प्यार करो,
तरल भाव से सरल भाव से नित समुचित व्यवहार करो ।
यथायोग्य उनका विनायादिक करना भी कर्त्तव्य रहा,
रहा यही वात्सल्य अंग है उज्ज्वल हो भवितव्य अहा ॥१७॥

अन्धकार अज्ञानमयी जब फैल रहा हो कभी कहीं,
उसे मिटाना यथायोग्य निज-शक्ति छुपाना कभी नहीं ।
जिन-शासन की महिमा की हो और प्रसारण सुखद कहाँ
प्रभावना दृग अंग यही है पाप रहे फिर दुखद कहाँ ? ॥१८॥

प्रथम अंग नि:शंकित में वह प्रसिद्ध अंजन चोर महा,
नि:कांक्षित में अनन्तमति यश फैल रहा चहुँ ओर यहाँ ।
निर्विचिकित्सित में उद्दायन ख्यात हुआ कृतकाम हुआ,
अडिग रेवती अमूढ़पन में ख्यात उसी का नाम हुआ ॥१९॥

स्थितिकरण के पालन में रत नामी जिनेन्द्र-भक्त रहे,
छठा अंग उपगूहन में वर वारिषेण अनुरक्त रहे ।
इसी भाँति वात्सल्य अंग में विष्णु-मुनि विख्यात रहे,
ख्यात हुए हैं प्रभावना में वज्र मुनीश्वर, ज्ञात रहे ॥२०॥



समदर्शन यदि निज अंगों का अवधारक वह नहीं रहा,
जनन जरा भय भव-संतति का हारक भी फिर नहीं रहा ।
न्यूनाधिक अक्षर वाला हो मन्त्र जहर को कब हरता ?
उचित रहा यह समुचित कारण निजी कार्य वह द्रुत करता ॥२१॥

कंकर-पत्थर ढेर लगाना स्नान नदी सागर करना,
अग्नि कुण्ड में प्रवेश करना गिरि पर चढ़कर गिर मरना ।
लोक मूढ़ता यही रही है मूढ़ उन्हें बस धर्म कहें,
मत: मूढ़ता त्यागना तत्पर शाश्वत शुचि शिव-शर्म गहें ॥२२॥

राग-रोष से दोष-कोष से जिनका जीवन रंजित है,
देव नहीं वे, कुदेव सारे देव-भाव से वंचित हैं ।
धन सुत आदिक की वांछा से उनकी पूजा जड़ करते,
देव मूढ़ता यही, इसी से विधि-बन्धन को दृढ़ करते ॥२३॥

संग सहित आरंभ सहित हैं हिंसादिक में फँसे हुए,
सांसारिक कार्यों में उलझे मोह पाश से कसे हुए ।
कुगुरु रहें वे उनका आदर जो जड़ जन नित करते हैं,
गुरु मूढ़ता यही इसी से पुनि पुनि तन धर मरते हैं ॥२४॥

ज्ञानवान हैं बलिमान हैं उच्च-जाति कुलवान तथा,
पूज्य प्रतिष्ठित रूपवान हैं तप-धारी बलवान तथा ।
मनमें अतिमान, मान हो इन आठों के आश्रय ले,
यही रहा 'मद' निर्मद कहते जिनवर जिनका आश्रय ले ॥२५॥

व्यर्थ गर्व से तने हुए हैं मन में जो मद-मान धरे
धार्मिक जीवन जीने वाले भविजन का अपमान करे
मत: स्वयं ही आत्म-धर्म का मिटा रहे वह भूल रहे
धर्मात्मा बिन चूंकि धर्म नहिं मिलता जो भव कूल रहे ॥२६॥

संवरमय समकित आदिक से जिनका कलुषित पाप धुला
जात-पात धन कुल से फिर क्या ? रहा प्रयोजन आप भला
किन्तु पाप-मय जीवन जिनका बना हुआ हैं सतत रहा
बाह्य सम्पदादिक फिर भी वह मूल्य-शून्य सब वितथ रहा ॥२७॥

निजी कर्म के उदय प्राप्त कर जन्म-जात चाण्डाल रहा
पर समदर्शन से है जिसका भासित जीवन भाल रहा
गणधर आदिक पूज्य साधुजन पूज्य उसे भी तदपि कहा
तेज अनल ज्यों अन्दर ऊपर राख ढकी हो यदपि अहा ! ॥२८॥

धर्म-भाव वश श्वान स्वर्ग में देव बने वह सुखित बने,
पाप-भाववश देव श्वान हो पशुगति में आ, दुखित घने ।
अत: धर्म के बिन जग जन को अन्य कौन फिर सम्पद है ?
धर्म-शरण हो मम जीवन हो अक्षय सुख का आस्पद है ॥२९॥

आशा भय के स्नेह लोभ के वशीभूत सुख खोकर के,
कुगुरु-देव आगम ना पूजें नहीं विनय बुध हो करके ।
चूँकि विमल समदर्शन से वह जिनका जीवन पोषित है,
इस विध गुरु कहते जिनके तन-मन यम दम से शोभित हैं ॥३०॥

ज्ञात रहे यह बात सभी को समदर्शन ही श्रेष्ठ रहा,
ज्ञान तथा चारित में समपन लाता फलत: जेष्ठ रहा ।
मोक्ष-मार्ग में समदर्शन ही खेवटिया सम मौलिक है,
सन्त कह रहे, कर नहिं सकते जिसका वर्णन मौखक है ॥३१॥

विद्या चारित के उद्भव औ रक्षण वर्धन सुफल रहा,
समदर्शन बिन संभव नहिं हैं कुछ भी करलो विफल अहा ।
उचित बीज बिन भला बता तू फूल-फलों से लदा हुआ,
हरित भरित तरु कभी दिखा क्या समदर्शन बिन मुधा रहा ॥३२॥



शिव-पथ का वह पथिक रहा है गृही बना यदि निर्मोही,
मोक्ष-मार्ग से बहुत दूर हैं मुनि होकर यदि मुनि मोही ।
अत: मोह से मण्डित मुनि से मोह रहित "वर" गृही रहा,
मात्र भेष नहिं गुण से शिव हो यही रहा श्रुत, सही रहा ॥३३॥

तीन लोक में तीन काल में तनधारी को सुखकारी,
अन्य कौन यह द्रव्य रहा है समदर्शन बिन दुखहारी ।
इसी भाँति मिथ्यादर्शन सम और नहीं दुखकारक है,
हित चाहो हित कारण धारो गुरु गाते गुण धारक है ॥३४॥

विरत यदपि हैं जिनका जीवन अविरत है,
किन्तु विमल तम समदर्शन के आराधन में नित रत हैं ।
प्रथम नरक बिन नहीं नपुंसक पर भव पशु स्त्री ना हो,
अल्प आयुषी अपांग ना हो दरिद्र ना दुष्कुलिना हो ॥३५॥

बने यशस्वी बने मनस्वी ओज तेज से सहित बने,
नीर निधी सम धीर धनी भी शत्रु-विजेता मुदित घने ।
महाकुली हो शिवपथ साधक मनुज लोक के तिलक बने,
समदर्शन से विमल लसे हैं शीघ्र निरंजन अलख बने ॥३६॥

अणिमा महिमा गरिमादिक वसु गुण पूरण पा तुष्ट रहें,
अतिशय सुन्दर शोभा-से बस विलसित हो संपुष्ट रहें ।
सुर बनकर सुर वनिताओं से सुचिर स्वर्ग में रमण करें,
दृग धारक जिनके आराधक फिर शिवपुर को गमन करें ॥३७॥

चक्री बनकर चक्र चलाते छह खण्डों के अधिपति हैं,
जिनके पद में मुकुट चढ़ाते सादर आ धरणीपति हैं ।
नव-निधियाँ शुभ चौदह मणियाँ सभी उन्हीं को प्राप्त रहें,
जो हैं शुचितम दर्शनधारी इस विध हमको आप्त कहें ॥३८॥

पति, नरपति, असुराधिप भी जिन चरणों में माथ धरें,
धर आदिक पूज्य साधु तक जिन्हें सदा प्रणिपात करें।
सत्य-दृष्टि से तत्त्व-बोध को पाये जग में शरण रहें,
धर्म-चक्र के चालक वे ही तीर्थंकर सुख शरण रहें ॥३९॥

रोग नहीं है शोक नहीं है जहाँ जरा नहिं मरण नहीं,
बाधा की भी गंध नहीं है शंका का अनुसरण नहीं।
पूरण विद्या सुख शुचि सम्पद अनुपम अक्षय शिवपद है,
समदर्शन के धारक ही वे पा लेते अभिनव पद हैं ॥४०॥

यों सुरपुर में अमित सम्पदा-युत सुरपति पद भोग वहाँ
पुनः धरापतियों से पूजित नरपति पद का योग यहाँ
तीन लोक में अनुपम अद्भुत तीर्थंकर पद पाकर के,
प्रभु-पद-पंकज-पूजक भविजन शिव हो निज घर जाकर के ॥४१॥

अहो ! न्यूनता-रहित रहा है संशय से भी रीता है,
तथा अधिक रहित रहा है नहीं रहा विपरीता है।
सदा वस्तु जब जिस विध भाती उन्हें उसी विध जान रहा,
जिन कहते हैं समीचीन बस ! ज्ञान वही सुख खान रहा ॥४२॥

महापुरुष की कथा, शलाका पुरुषों की जीवन गाथा,
गाता जाता बोधि विधाता समाधि-निधि का है दाता।
वही रहा प्रथमानुयोग है परम-पुण्य का कारक है,
समीचीन शुचि बोध कह रहा, रहा भवोदधि तारक है ॥४३॥

लोक कहाँ से रहा कहाँ तक अलोक कितना फैला है ?
कब किस विध परिवर्तन करता काल खेलता खेला है।
दर्पण सम जो चहुँ गतियों को स्पष्ट रूप से दर्शाता,
वही रहा करणानुयोग शुचि-ज्ञान बताता हर्षाहा ॥४४॥



सागारों का अनगारों का चरित सुखद है पावन है,
जिसके उद्भव रक्षण वर्धन में बाहर जो साधन है।
वही रहा 'चरणानुयोग' है पूर्ण-ज्ञान यों बता रहा,
उसका अवलोकन कर ले तू समय वृथा क्यों बिता रहा ॥४५॥

जीव-तत्त्व क्या कहाँ रहा, अजीव कितने रहे कहाँ
पाप रहा क्या पुण्य रहा क्या, बंध मोक्ष क्या रहे कहाँ ?
इन सबको द्रव्यानुयोग-मय, दीप प्रकाशित करता है,
मूल-भूत जिन श्रुत विद्या का, प्रकाश लेकर जलता है ॥४६॥

सुचिर काल के मोह तिमिर को, पूर्ण रूपसे भगा दिया
समदर्शन का लाभ हुआ जो, सत्य-ज्ञान को जगा लिया।
राग-रोष का मूल रूप में, क्षय करना अब कार्य रहा,
तभी चरित को धारण करता, साधु रहा यह आर्य रहा ॥४७॥

हिंसादिक सब पापों के जब, निराकरण के करने से,
राग रोष ये मिटते कारण, बाधक कारण मिटने से।
जिसके मन में अणु भर भी नहिं, धन मणि यश की अभिलाषा,
किस विध कर सकता फिर सेवा, राजा की वह बन दासा ॥४८॥

हिंसा से औ असत्य से भी, चोरी मैथुन-सेवन से,
पापास्रव के सभी कारणों, और परिग्रह मेलन से।
सुदूर होना भाग्य मानकर, संयम-मय जीवन जीना,
सच्चे ज्ञानी पुरुषों का वह, चारित है निज आधीना ॥४९॥

सकल संग को त्याग चुके हैं, अनगारों का सकल रहा,
अल्प संग को त्याग चुके हैं, सागारों का विकल रहा।
सकल नाम का विकल नाम का, इस विध चारित द्विविध रहा,
भविजन धरते फल मिलता है, सुर-सुख शिव-सुख विविध महा ॥५०॥

पति, नर
धर अ
सत्य-द
धर्म-



रित भी, त्रिविध बताया जिनवर ने,
यों, नाम पुकारा गणधर ने ।
, गुणव्रत भी वह त्रिविध रहा,
से पालो सुबुध अहा ? ॥५१॥

, अनुचित असत्य भाषण का,
का भी तथा संग के धारण का ।
स्थूल रूप से, पापों का जो त्याग रहा,
माना जाता है वह, सुख का ही अनुभाग रहा ॥५२॥

कभी भूलकर काया से भी, और वचन से निजमति से,
कृत से भी औ कारित से भी, अन्य किसी की अनुमति से ।
संकल्पित हो त्रस जीवों का, प्राण-घात जो नहिं करना,
'अहिंसाणुव्रत' वही रहा है, जिन कहते तू उर धरना ॥५३॥

निर्बल नौकर पशु पर भारी, भार लादना रोज व्यथा,
छेदन भेदन पीड़न करना, देना कम ही भोज तथा ।
अहिंसाणुव्रत के पाँचों ये, अतीचार हैं त्याज्य रहें,
तजता वह, भजता सुर सुख औ, क्रमशः शिव-साम्राज्य गहें ॥५४॥

स्थूल झूठ ना स्वयं बोलता, तथा न पर से बुलवाता,
तथा सत्य से बच, बचवाता, पर-पर यदि संकट आता ।
स्थूल सत्यव्रत यही रहा है, श्रावक पाले मन हरषे,
पर उपकारों में रत गणधर, इस विध कहते सुख बरसे ॥५५॥

कभी धरोहर डकार जाना, अहित पंथ को "हित" कहना,
नर-नारी के गुप्त प्रणय को, प्रकटाना चुगली करना ।
ईर्षावश, नहिं किये कहे को, किये कहे यों लिख देना,
स्थूल-सत्यव्रत के ये दूषण, रस इनका न चख लेना ॥५६॥



रखी हुई या गिरी हुई या, कभी भूल से कहीं रही,
औरों की जो वस्तु रही हो, दी न गई हो निजी नहीं ।
उसे न लेना, अन्य किसी को तथा न देना भूल कभी,
'अचौर्य अणुव्रत' यही रहा है, रहा सौख्य का मूल यही ॥५७॥

चोरी करने प्रेरित करना, चौर्य द्रव्य पर से लेना,
काम मिलावट का करना औ, सत्ता का कर नहिं देना ।
मापतोल में बढ़न-घटन कर लेन-देन करते रहना,
अचौर्य अणुव्रत के ये पाँचों, दोष इन्हें हरते रहना ॥५८॥

पाप कर्म से डरते हैं जो, पर-वनिता का भोग नहीं,
स्वयं तथा पर को प्रेरित नहिं, करते हैं बुध लोग कभी ।
पर वनिता का त्याग रूप वह, ब्रह्मचर्य अणुव्रत भाता,
तथा उसी का अपर नाम है "स्वदार सन्तोषित" साता ॥५९॥

पर के विवाह करना, अनुचित अंग-संग मैथुन करना,
गाली गलौच देना, इच्छा काम-भोग की अति करना ।
व्याभिचारिणी के घर जाना, आना वार्तादिक करना,
ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पाँचों दूषण हैं इनसे डरना ॥६०॥

दशविध परिग्रह धान्यादिक का, समुचित सीमित कोष करे,
संग्रह उससे अधिक संग का, नहीं करे, मनतोष धरे ।
"परिमित परिग्रह" पंचम अणुव्रत यही रहा सुन सही जरा,
"इच्छा परिमाणक" भी प्यारा नाम इसी का तभी परा ॥६१॥

बहुत भार को ढोना संग्रह, व्यर्थ संग का अति करना,
पर धन लख विस्मित होना अतिलोभी बहु वाहन रखना ।
परिमित परिग्रह पंचम अणुव्रत, के पाँचों ये दोष रहे,
इस विध कहते जिनवर हमको, वीतराग गत दोष रहे ॥६२॥

अतीचार से रहित रही है, सारी अणुव्रत की निधियाँ,
नियम रूप से शीघ्र दिखाती, स्वर्गों की स्वर्णिम गलियाँ ।
अणिमा महिमादिक आठों गुण अवधिज्ञान से सहित मिले,
भव्य-दिव्य मणिमय-सी काया छाया से जो रहित मिले ॥६३॥

आदिम में मातङ्ग रहा है, दूजे में धनदेव रहें,
वारिषेण नीली जय क्रमशः अन्य व्रतों में, देव कहें ।
इस विध अणुव्रत पालन में ये, दक्ष रहें निष्णात हुए,
पूजा अतिशय यश पाया है, भविक जनों में ख्यात हुए ॥६४॥

सुनो ! सुनो ! हिंसा में कुशला रही धनश्री सेठानी,
असत्य में तो सत्यघोष वह चोरी में तापस नामी ।
काम पाप में यमपालक था और श्मश्रु-नवनीत रहा,
पाँचों पापों में यों पाँचों ख्यात यही अघ-गीत रहा ॥६५॥

मद्य-माँस-मधु मकार त्रय का प्रथम पूर्ण वारण करना,
अहिंसादि अणुव्रत पाँचों का सादर परिपालन करना ।
गृही जनों के अष्टमूल-गुण श्रमणवरों ने बतलाया,
पाला जिसने पाया उसने पावन-पद शाश्वत काया ॥६६॥

गुणव्रत हैं त्रय दिगव्रत आदिम अनर्थदण्डक व्रत प्यारा,
भोगोपभोग परिमाण तथा रहा तीसरा व्रत सारा ।
विमल बनाते सबल बनाते सकल मूलगुण के गण को,
सार्थक इनका नाम इसी से आर्य बताते भविजन को ॥६७॥

मरण काल तक दशों दिशाओं की मर्यादा अपनाना,
उससे बाहर कभी न जाऊँ यों सङ्कल्पित हो जाना ।
चूँकि ध्येय है सूक्ष्म पाप से भी पूरण बचकर रहना,
यही रहा है दिग्व्रत इस विध पूज्य गणधरों का कहना ॥६८॥



सागर सरिता सरवर भूधर पुर गोपुर औ नगर महा,
यथा प्रयोजन, योजन आदिक वन-उपवन गिरि शिखर महा ।
दशों दिशाओं की मर्यादा गुणव्रत धरके की जाती,
इन्हीं स्थलों को हेतु बनाते जिनवाणी यों बतलाती ॥६९॥

मर्यादा के बाहर जबसे सूक्ष्म पाप से रहित हुए,
पापभीत हो यथा प्रयोजन सभी दिग्व्रतों सहित हुए ।
तभी महाव्रत पन को पाते सागारों के अणुव्रत हो,
पाप त्याग की महिमा न्यारी अकथनीय है अनुगत हो ॥७०॥

कषाय प्रत्याख्यानावरणा मन्द-मन्दतर हुए जभी,
चरित मोह परिणाम सभी वे मन्द-मन्दतर हुए तभी ।
मोहादिक के भाव यदपि हैं सहज पकड़ में नहीं आते,
तभी गृही उपचार मात्र से महाव्रती वे कहलाते ॥७१॥

हिंसादिक पाँचों पापों को तन से वच से औ मति से,
पूर्ण त्यागना भूल राग को कृतकारित से अनुमति-से ।
महामना मुनि महाराज का रहा महाव्रत सुधा वही,
संग सहित हो स्वयं आपको मुनि माने जो मृषा वही ॥७२॥

ऊपर नीचे आन-बान सीमा उल्लंघन करना,
किसी प्रलोभनवश निर्धारित, सीमा संवर्धन करना ।
प्रमादवश कृत सीमा की स्मृति विस्मृत करना, मूढ़ रहे,
आगम कहता सुनो ! पाँच ये दिग्व्रत के हैं शूल रहे ॥७३॥

दशों दिशाओं की मर्यादा के भीतर भी वच तन को,
बिना प्रयोजन पाप कार्य से रोक लगाना निज मन को ।
अनर्थ दण्डक व्रत यह माना, व्रत धरके गुरु बतलाते,
जिसके जीवन में यह उतरा तरा भवोदधि वह तातैं ॥७४॥

रुचि से सुनना पाप कथायें और सुनाना औरों को,
प्रमाद करना, प्रदान करना हिंसा के उपकरणों को ।
अनर्थ-दण्डक पाँच पाप ये दुश्चिंतन में रत रहना,
इन दण्डों को नहीं धारते गणधर देवों का कहना ॥७५॥

पशुओं को पीड़ा हो जिनसे कृषि आदिक हिंसाधिक हो,
जिन उपदेशों से यदि बढ़से प्रचलित प्रवंचनादिक हो ।
उन्हीं कथायें बार-बार बस, सतत् सुनाते जो रहना,
वही रहा पापोपदेश है अनर्थ जड़ है भव गहना ॥७६॥

हिंसा के जो कारण माने फरसा भाला हाला को,
खड्ग कुदारी तथा शृंखला जलती ज्वाला ज्वाला को ।
प्रदान करना, अनर्थ दण्डक यह है हिंसा दान रहा,
बुध कहते, दुःख प्रदान करना भव-भव में दुःख खान रहा ॥७७॥

द्वेषभाव से कभी किसी के बंधन छेदन का वध का,
रागभाव के वशीभूत हो परवनितादिक का धन का ।
मन से चिंतन करना हो तो दुःख हेतु दुर्ध्यान रहा,
जिन शासन के शासक कहते सौख्य हेतु शुभ ध्यान रहा ॥७८॥

कृषि आदिक का वशीकरण का, संग वृद्धि का वर्णन हो,
वीर रसों का मिश्रण जिनमें द्वेषभाव का चित्रण हो ।
कुमत मदन के पोषक हैं, उन शास्त्रों का श्रवण रहा,
मन कलुषित करता, 'दुःश्रुति' यह इसका फल भवभ्रमण रहा ॥७९॥

अनल जलाना अनिल चलाना सलिल सिंचना वृथा कभी
धरा खोदना, धूल उछालन लता तोड़ना तथा कभी
बिना प्रयोजन स्वयं घूमना और घुमाना परजन को,
प्रमाद नामक अनर्थ दण्डक यह कारण भव-बंधन को ॥८०॥



बहु बकना अति राग भाव से, असभ्य बातें भी करना,
भोग्य वस्तुयें अधिक बढ़ाना कुत्सित चेष्टायें करना
किसी कार्य का ऽऽरम्भ अधिक भी पूर्व भूमिका बिन करना,
अनर्थ दण्डक व्रत के पांचों दोष रहें ये, नहिं करना ॥८१॥

विषय राग की लिप्सा को जब और क्षीणतम करना हैं,
विषयों की सीमा को उसके भीतर भी कम करना है
आवश्यक पंचेन्द्रिय विषयों की सीमा सीमित करना,
भोगोपभोग परिमाण यही है गुणव्रत धरना हित करना, ॥८२॥

भोग वही जो भोग काम में एकबार ही आता है,
किन्तु रहा उपभोग काम में बार-बार जो आता हैं
अशन सुमन आसन वसनादिक पंचेन्द्रिय के विषय रहें,
श्रावक इनमें रचे-पचे नहिं निज व्रत में नित अभय रहें ॥८३॥

जिसने जिनवर के जग तारण-तरण-चरण की शरण गही,
कहा जा रहा उसका, निश्चित बनता है आचरण सही
त्रसहिंसा से जब बचता है मांस तथा मधु तजता है,
तथा साथ ही प्रमाद तजने मद्य-पान भी तजना है ॥८४॥

मूली, नवनीत, प्याज, गाजर, आलू, अदरक आदिक को,
नीम कुसुम नवनीत केवड़ा गुलाब गुलन्दादिक को
साधु जनों ने त्याज्य बताया इसका कारण यह श्रोता !
जीव घात तो अधिक, अल्प फल इनके भक्षण से होता ॥८५॥

रोग जनक प्रतिकूल अन्न हो भक्ष्य भले ही त्याज्य रहे,
प्रासुक हो पर अनुपसेव्य भी व्रतीजनों को त्याज्य रहें
क्योंकि ग्रहण के योग्य विषय को, इच्छापूर्वक तजना ही,
व्रत हैं इस विध आगम कहता, मोह राग को तज राही ॥८६॥

भोगोपभोग परिमाण द्विविध है कहता जिन आगम प्यारा,
नियम नाम का एक रहा हैं, रहा दूसरा 'यम' वाला
तथा काल की सीमा करना, वही नियम से नियम रहा,
आजीवन जो धारा जाता यम कहलाता परम रहा ॥८७॥

अशन पान का शयन स्नान का तथा काम के सेवन का,
श्रवण गान का सुमन माल का ललित काय के लेपन का
पचन पान का वसन मान का शोभन भूषण धारण का,
वाद्य गीत संगीत प्रीति हा हयगय अतिशय वाहन का ॥८८॥

घटिका में या दिनभर में या निशि में निशिवासर में या,
पक्ष मास ऋतु एक अयन में पूरण संवत्सर में या
यथा शक्ति इन्द्रिय विषयों का जो तजना हैं "नियम" रहा,
इसका पालन करने वाला सुख पाता अप्रतिम रहा ॥८९॥

विषम-विषमतम विष सम विषयों को अनपेक्षित नहिं करना,
विगत काल में भोगे-भोगों, की स्मृति भी पुनि-पुनि करना
भावी भोगों की अति तृष्णा, लोलुपता अति अपनाना,
भोगोपभोग परिमाण दोष ये, भोगों में अति रम जाना ॥९०॥

प्रथम देश अवकाशिक प्यारा दूजा है सामयिक तथा,
रहा प्रोषधा उपवासा है, "वैयावृत्य, श्रमिक-कथा"
मुनिव्रत शिक्षा मिलती इनमें शिक्षा व्रत ये चार रहें
मुनि बनने की इच्छा रखते श्रावक इनको धार रहें ॥९१॥

बहुत क्षेत्र की दशों दिशाओं, में सीमा आजीवन थी
उसे काल की मर्यादा से, कम-कम करना प्रतिदिन भी
यही देश अवकाशिक व्रत है, अणुव्रत पालक श्रावक का,
यही देशनामृत मृतिनाशक जिन शासन के शासक का ॥९२॥



ग्राम तथा आराम धाम निज पुर गोपुर औ भवन महा,
यथा प्रयोजन योजन-योजन नद नदिका वन गहन अहा
सुनो ! देश अवकाशिक व्रत में, इनकी सीमा की जाती,
गणी कहें, भवतीर लगाती वीर भारती भी गाती ॥९३॥

एक स्थान पर रहूँ वर्ष या एक अयन ऋतु पक्ष कभी,
चार मास या मास भनाना नियम कभी नक्षत्र कभी
यही देश अवकाशिक व्रत की कालावधि मानी जाती,
जानी ध्यानी कहते हैं आ जिनवर की वाणी गाती ॥९४॥

देश काल की सीमायें जब, निर्धारित कर पाने से,
उनके बाहर स्थूल सूक्ष्म अघ पाँचों ही मिट जाने से
स्वयं देश अवकाशिक व्रत भी अणुव्रत होकर महा बने,
व्रत की महिमा यही रही है दुःख बनता सुख सुधा बने ॥९५॥

कभी भेजना सीमा बाहर पर को अथवा बुलवाना,
कंकर आदिक फेंक सूचना करना ध्वनि देकर गाना
सीमा के अन्दर रहना पर रूप दिखाना बाहर को,
दोष, देश अवकाशिक व्रत के ये हैं; तज अघ-आकर को ॥९६॥

सीमा के भीतर बाहर पांचों पापों का त्याग करो,
तन से मन से और वचन से आतम में अनुराग करो
यही रहा सामयिक नाम का शिक्षाव्रत अघहारक हैं,
ऐसे कहते गणधर आदिक अगाध आगम धारक हैं ॥९७॥

केशबन्ध का मुष्टिबन्ध का वस्त्र बन्ध का काल रहा,
तथा बैठने स्थित होने का जो आसन का काल रहा
वही रहा सामयिक समय है कहते आगम ज्ञाता हैं,
जो करता सामयिक नियम से बोधि समागम पाता है ॥९८॥

व्यभिचारी महिलाजन पशु से रहित रहे एकान्त रहे,
सभी तरह की बाधाओं से रहित रहे पै, शान्त रहे
निजी भवन में वन उपवन में चैत्य भवन या जंगल में,
व्रती सदा सामयिक करे वह प्रसन्न मन से मंगल में ॥९९॥

देहाहिक की दूषित चेष्टा प्रथम नियन्त्रित भी करके,
संकल्पों औ विकल्प जल्पों का निग्रह कर भीतर से ।
अनशन के दिन करना अथवा एकाशन के दिन में भी करना,
व्रती पुरुष सामयिक यथा विधि अन्य दिनों में भी करना ॥१००॥

यथाविधी एकाग्र चित्त से श्रावकजन नित प्रतिदिन भी,
अहोभाग्य सामयिक करें वे अनुत्साह आलस बिन ही ।
क्योंकि अहिंसादिक अणुव्रत हो पूर्ण इसी से सफल रहें,
गीत इसी के निशिदिन गाते मुनिगण नायक सकल रहें ॥१०१॥

सुनो ! व्रती सामयिक करेगा जब करता आरम्भ नहीं,
पास परिग्रह नहिं रखता है पर का कुछ आलम्ब नहीं ।
तभी गृही वय यतिपन को है पाता दिखता है ऐसा,
हुआ कहीं उपसर्ग वस्त्र से वेष्ठित मुनि लगता जैसा ॥१०२॥

श्रावक जब सामयिक कार्य को करने संकल्पित होता,
बाँधी सीमा तक अपने में पूर्णरूप अर्पित होता ।
मच्छर आदिक काट रहे हों शीत लहर हो अनल दहे,
सहे परीषह उपसर्गों को मौन योग में अचल रहे ॥१०३॥

अशरण होकर अशुभ रहा है सार नहीं दुःख क्षार रहा,
पर है परकृत तथा रहा है क्षणभंगुर संसार रहा ।
किन्तु शरण है शुभ है सुख है स्वयं मोक्ष ध्रुव सार रहा,
यह चिंतन सामयिक काल में करता वह भव पार रहा ॥१०४॥



मन वच तन के योग तीन ये पाप सहित जो बन जाना,
तथा अनादर होना-होना सहसा विस्मृत अनजाना ।
ये पांचों सामयिक नाम के शिक्षाव्रत के दोष रहें,
दोष रहित जिनदेव बताते गुण-गण के जो कोष रहें ॥१०५॥

सदा अष्टमी चतुदर्शी को भोजन का बस त्याग करें,
अशन पान को खाद्य लेह्य को, याद करें ना राग करें ।
यही "प्रोषधा उपवासा" है व्रतीजनों का ज्ञात रहें,
किन्तु मात्र व्रत पालन करना सत्य प्रयोजन साथ रहे ॥१०६॥

लोचन अंजन नासा रंजन दांतन मंजन स्नान नहीं,
नास तमाखु अलंकार ना फूल-माल का मान नहीं ।
असि मशि कृषि आदिक षट्कर्मों पापों का परिहार करें,
निराहार उपवास दिनों में निज का ही शृंगार करें ॥१०७॥

पूर्ण चाव से निज श्रवण से धर्मामृत पा पान करें,
बने अन्य को पान करावे सहधर्मी का ध्यान करें ।
ज्ञानाराधन द्वादशभावन धर्म ध्यान में लीन रहें,
किन्तु व्रती उपवास दिनों में प्रमाद-भर से हीन रहें ॥१०८॥

अशन पान का खाद्य लेह्य का पूर्ण-त्याग उपवास रहा,
एक बार ही भोजन करना प्रोषध उसका नाम रहा ।
तथा पारणा के दिन भोजन एक बार ही जो गहना,
रहा "प्रोषधा उपवासा" वह बार-बार गुरु का कहना ॥१०९॥

देख-भाल बिन शोधे बिन ही पूजन द्रव्यों को लेना,
नहीं कहीं भी दरी बिछाना मल-मूत्रों को तज देना ।
तथा अनादर होना, होना विस्मृति भी वह कभी-कभी,
दोष प्रोषधा उपवासा के हैं कहते हैं सुधी सभी ॥११०॥

तपोधनी हैं गुण के निधि हैं गृह-त्यागी संयम-घर हैं,
उनको अन्नादिक देना यह "वैयावृत्या" व्रतवर हैं ।
पर प्रतिफल की मन्त्र-तन्त्र की इच्छा बिन हो दान खरा,
यथाशक्ति से तथा यथाविधि धर्म-भाव पर ध्यान धरा ॥११९॥

संयमधर पर आया संकट उसे मिटाना कार्य रहा,
पैर थके हों पीड़ा हो तो उन्हें दबाना आर्य महा ।
गुण के प्रति अनुराग जगा हो अन्य-अन्य उपकार सभी,
वैयावृत्या कहलाता है लाता है भवपार वही ॥११२॥

पाप कार्य सब चूली चक्की आदिक सूने त्याग दिये,
आर्य रहें अनिवार्य कार्यरत संयम में अनुराग किये ।
उन्हें सप्त गुण युत शुचि श्रावक नवविध भक्ति से करता,
प्रासुक अन्नादिक देता वह दान कहाता दुःख हरता ॥११३॥

अगार तज अनगार बने हैं अतिथि रहें नहिं तिथि रखते,
उन पात्रों को दाता देते दान यथोचित मति रखते ।
गृह-कार्यों से अर्जित दृढ़तम अघ भी जिससे धुलता है,
रुधिर नीर से जिस विध धुलता, आती अति उज्ज्वलता है ॥११४॥

तपोधनों को नमन करो तो सुफल निराकुल सुकुल मिले,
उपासना से पूजा मिलती भोग दान से विपुल मिले ।
भक्त बनो गुरु-भक्ति करो तो सुभग-सुभगतम तन मिलता,
गुरु-गुण-गण की स्तुति करने से यश फैले जन मंजुलता ॥११५॥

सही पात्र को भाव-भक्ति से समयोचित हो दान रहा,
अल्पदान भी अनल्प फल दे भविजन को वरदान रहा ।
उचित धरा पर वपन किया हो, हो अणु-सा वट बीज भले,
घनी छाँव फल देता तरु बन भाव भले, शुभ चीज मिले ॥११६॥



प्रथम रहा आहार दान है दूजा औषध दान रहा,
शास्त्रादिक उपकरणदान जो वही तीसरा दान रहा ।
चौथा है आवासदान यों भेद दान के चार रहे,
वैयावृत्या अतः चतुर्विध सुधी कहे आचार्य कहें ॥११७॥

प्रजापाल श्रीषेण नाम का प्रथम दान में ख्यात रहा,
हुई वृषभसेना वह औषध महादान में ख्यात महा ।
तथा रहा उपकरण-दान में नामी है कौण्डेश अहा,
सुकर वह आवास दान में यह गुरु का उपदेश रहा ॥११८॥

देवों से भी पूज्य देव "जिन" जिनके सुरपति दासक हैं,
प्रभु पद पंकज कामधेनु हैं कामभाव का नाशक हैं ।
सविनय सादर जिनपद पूजन बुधजन प्रतिदिन करे अतः,
सब दुख मिटता मिलता निज सुख क्रमशः शिव को वरे स्वतः ॥११९॥

अरहन्तों के चरण कमल की पूजा की महिमा न्यारी,
शब्दों में वह बंध नहिं सकती थकती रसनायें सारी ।
इस महिमा को राजगृही में भविक जनों के सम्मुख रे,
प्रमुदित मेण्ढक दिखलाया है फूल-पाँखुड़ी ले मुख में ॥१२०॥

अतिथिजनों को दाता देते भोजन जो यदि ढका हुआ,
कदली के पत्तों से अथवा कमल-पत्र पर रखा हुआ,
तथा भाव मात्सर्य अनादर विस्मृति होना दोष रहें,
वैयावृत्या व्रत के पाँचों कहते गुरु गतदोष रहें ॥१२१॥

जरा-दशा दुर्भिक्ष-काल या उपसर्गों का अवसर हो,
रोग भयंकर तथा हुआ हो दुर्निवार हो दुःखकर हो ।
धर्म-भावना रक्षण करने तन तजना तब कार्य रहा,
सल्लेखन वह है इस विध ये कहते गुरुवर आर्य महा ॥१२२॥

अन्त समय संन्यास सहारा लेना होता है प्राणी !
सकल तपों का सुफल रहा वह विश्व-विज्ञ की यह वाणी ।
इसीलिए अब यथाशक्ति बस पाने समाधि मरण-अरे,
सतत् यतन करते रहना है तुम्हें मुक्ति तब वरण करे ॥१२३॥

प्रेम भाव को बैर भाव को तथा अंग की ममता को,
सकल सङ्ग को तजकर, धरकर निर्मल मनमें समता को ।
विनय घुला हो प्रिय सम्वादों मिश्री वचनों से,
आप क्षमाकर क्षमा माँगकर पुरजन परिजन स्वजनों से ॥१२४॥

सर्व पाप का आलोचन कर कृत से कारित अनुमति से,
सभी तरह का कपट भाव तज सरल सहज निश्छल मति से ।
पंच पाप का त्याग करे वह जब तक घट में प्राण रहे,
पंच महाव्रत ग्रहण करें पर आत्म-तत्त्व का भान रहे ॥१२५॥

शोक छोड़ना भीति छोड़ना पुर्ण छोड़ना खेद तथा,
स्नेह छोड़ना द्वेष छोड़ना अरतिभाव मनभेद व्यथा ।
अहो ! धैर्य भी तथा जगाना उत्साहित निज को करना,
सत्य श्रुतामृत पिला पिलाकर तृप्त शान्त मनको करना ॥१२६॥

दाल भात आदिक को क्रमशः कम-कम करते त्याग करें,
दुग्धादिक का पान करे अब नहीं अन्न का राग करे ।
दुग्धादिक को भी क्रमशः फिर निज इच्छा से त्याग करें ।
नीरस कांजी नीरादिक का केवल बस अनुपान करें ॥१२७॥

नीरस प्रासुक जलपानादिक भी क्रमशः फिर तज देना,
तन कृश हो उपवास करे पर प्रथम निजी बल लख लेना ।
पूज्य पंच नवकार मंत्र को निशिदिन मन से जपना है,
पूर्ण यत्न से जागृत बनकर तजना तन को अपना है ॥१२८॥



जीवन की वांछा करना में शीघ्र मरूँ मन में लाना,
तथा मित्र की स्मृति हो आना भय से मन भी घिर जाना ।
भोग मिले यों निदान करना पाँच दोष ये कहलाते,
सल्लेखन के जिनवर कहते दोष टाल बुध सुख पाते ॥१२९॥

सल्लेखन से कुछ धर्मात्मा भवसागर का तट पाते,
अन्तरहित शिव सुखसागर को तज नहिं भव पनघट आते ।
किन्तु भव्य कुछ परम्परा से शिवसुख भाजन हो जाते,
तन के मन के दुःख से रीता दीर्घकाल सुर सुख पाते ॥१३०॥

जनन नहीं है मरण नहीं है जरा नहीं है शोक नहीं,
दुःख नहीं है भीति नहीं है किसी तरह के रोग नहीं ।
वही रहा निर्वाण धाम है नित्य रहा अभिराम रहा,
निःश्रेयस् है विशुद्धतम सुख ललाम आतम राम रहा ॥१३१॥

अनन्त विद्या अनन्त दर्शन अनन्त केवल शक्ति रही,
परम स्वास्थ्य आनन्द परम औ परम शुद्धि परितृप्ति सही ।
जो कुछ उघड़े घटे-बढ़े नहिं अमित काल तक अमिट रहे,
निःश्रेयस निर्वाण वही है सुख से पूरित विदित रहे ॥१३२॥

एक-एक कर कल्प-काल भी बीत जाय शत-शत भाई,
या विचलित त्रिभुवन हो ऐसा वज्रपात हो दुखदाई ।
सिद्ध शुद्ध जीवों में फिर भी विकार का वह नाम नहीं,
उनका सुखकर नाम इसी से लेता में अविराम सही ॥१३३॥

निःश्रेयस् निर्वाण धाम में सुचिर काल ये बसते हैं,
तीन लोक की शिखामणी की मंजुल छवि ले लसते हैं ।
कीट कालिमा रहित कनक की शोभा पाकर भासुर हैं,
सिद्ध हुए हैं शुद्ध हुए हैं जिन्हें पूजते आसुर हैं ॥१३४॥

आज्ञापालक सेवक मिलते मिलती पूजा पद-पद है,
सभी तरह की विलासताएँ मिलती महती सम्पद हैं ।
परिजन मिलते योग्य भोग्य बल काम धाम आराम मिले,
जग-विस्मित हो अद्भुत सुख दे सत्य धर्म से शाम टले ॥१३५॥

प्रतिमाएँ वे कहलाते हैं ग्यारह श्रावक पद भाते,
उत्तर पद गुण पूर्व पदों के गुणों सहित ही बढ़ पाते
उचित रहा यह करोड़पति ज्यों लखपति पन से युक्त रहे,
ऐसा जिनवर का कहना है जनन मरण से मुक्त रहें ॥१३६॥

विषय भोग संसार देह से अनासक्त हो जीता है,
समीचीन दर्शन का नियमित मधुर सुधारस पीता है ।
पाँचों परमेष्ठी गुरुजन के चरणों में जा शरण लिया,
दर्शन-प्रतिमा का धारक वह तत्त्वपंथ को ग्रहण किया ॥१३७॥

पांचो अणुव्रत धारण करता अतीचार से रहित हुआ,
तीनों गुणव्रत चउशिक्षाव्रत इन शीलों से सहित हुआ ।
वही रहा व्रत प्रतिमाधारक किन्तु शल्य से रीता हो,
महाव्रती गणधर आदिक यों कहते हैं भवभीता हो ॥१३८॥

तीन-तीन कर चार-चार जो आवर्तो को करते हैं,
दिग्अम्बर हो स्थित हो प्रणाम, चार बार औ करते हैं ।
तीन सन्ध्याओं में वन्दन बैठ नमन दो बार करे,
श्रावक वे सामयिक नाम पद पा ले भव को पार करें ॥१३९॥

चतुर्दशी दो तथा अष्टमी प्रतिमास में आते हैं,
उन्हीं दिनों में यथाशक्ति सब काम-काज तज पाते हैं ।
प्रसन्न हो एकाग्र चित्त हो प्रोषध नियमों कर पाते,
प्रोषध उपवासा प्रतिमा के धारक श्रावक कहलाते ॥१४०॥



कच्चे जब तक रहते हैं वे कन्द रहो या मूल रहो,
करीर हो या शाक पात फल शाखा हो या फूल रहो ।
उनको तब तक खाते नहिं हैं दयामूर्ति जो श्रावक हैं,
सचित्त-विरता प्रतिमा के वे पूर्णरूप से पालक हैं ॥१४१॥

अन्न पान औ खाद्य लेह्य यों रहा चतुर्विध भोजन है,
उसका सेवन निशि में करते नहीं व्रतीजन भो ! जन हैं ।
जग में सब जीवों के प्रति जो करुणा धारण करते हैं,
निशि भोजन के त्याग नाम की प्रतिमा पालन करते हैं ॥१४२॥

मल का कारण, बीज रहा है मल का मल झरवाता है,
अशुचि धाम दुर्गन्ध रहा है तथा घृणा करवाता है ।
ऐसे तन को लखकर श्रावक मैथुन सेवन तजता है,
वही ब्रह्मचारी कहलाता धर्म-भाव बस भजता है ॥१४३॥

असि मसि कृषि सेवा शिल्पादिक प्रमुख यही आरम्भ रहें,
प्राणघात के कारण, कारण पापों के संबंध रहें ।
इस आरंभों को तजता है पाप-भीत करुणाधारी,
वही रहा आरम्भ त्यागमय प्रतिमाधारी आगारी ॥१४४॥

दाम धाम आदिक सब मिलकर बाह्य परिग्रह दशविध हो,
उसकी ममता तज जो श्रावक निरीह निर्मम बस बुध हो ।
तथा बना संतोष कोष हो निज कार्यों में निरत सही,
स्वामीपन ले मन में बैठे सकल संग से विरत वही ॥१४५॥

असि मसि कृसि आदिक आरंभो में तो ना अनुमति देता ।
किन्तु संग में विवाह कार्यों में भी न मति देता,
यद्यपि घर में रहता फिर भी समता-धी से सहित रहा,
वही रहा दशवीं प्रतिमा का पालक अनुमति-विरत रहा ॥१४६॥

श्रावक घर को तजता है फिर मुनियों के वन में जाता,
गुरुओं से सानिध्य प्राप्त कर करे ग्रहण सब व्रत साता ।
भिक्षाचर्या से भोजन पा तप तपता सुखकारक है,
श्रावक वह उत्कृष्ट रहा है खण्ड वस्त्र का धारक है ॥१४७॥

पाप रहा जो वही शत्रु है धर्म-बन्धु है रहा सगा,
यदि आगम को जान रहा है ऐसा निश्चय रहा जगा
वही श्रेष्ठ है ज्ञानी अथवा अपने हित का है ज्ञाता,
जिसको हित की चिन्ता नहिं है ज्ञानी कब वह कहलाता ? ॥१४८॥

मिथ्यादर्शन आदिक से जो निज को रीता कर पाया,
दोषरहित विद्या दर्शनव्रत रत्नकरण्डक कर पाया ।
धर्म अर्थ की काम मोक्ष की सिद्धि उसी को वरण करे,
तीन लोक में पति-इच्छा से स्वयं उसी में रमण करे ॥१४९॥

सुखद कामिनी कामी का ज्यों सुखी मुझे कर दुरित हरे,
शीलवती माँ सुत की जिस विध मम रक्षा यह सतत करे ।
कुल को कन्या सम गुणवाली यह मुझको शुचि शान्त करे,
दृग् लक्ष्मी मम जिन-पद पद्मों में रहती सब ध्वान्त हरे ॥१५०॥



## मंगल कामना

विहसित हो जीवन लता, विलसित गुण के फूल ।
ध्यानी मौनी सूँघता, महक उठा आमूल ॥१॥

सान्त करूँ सब पाप को, हरूँ ताप बन शान्त ।
गति आगति रति मति मिटे, मिले आय निज प्रान्त ॥२॥

रग-रग में करुणा झरे, दुःखी जनों को देख ।
विश्व सौख्य में अनुभवूँ, स्वार्थ सिद्धि की रेख ॥३॥

सर रूपादिक हैं नहीं, मुझ में केवल ज्ञान ।
चिर से हूँ, चिर औ हूँ, हूँ निज के बल जान ॥४॥

तन मन से और वचन से, पर का कर उपकार
रवि सम जीवन बस बने, मिलता शिव उपहार ॥५॥

यम-दम-शम-सम तुम धरो, क्रमशः कम श्रम होय
नर से नारायण बनो, अनुपम अधिगम होय ॥६॥

मंगल जग जीवन बने, छा जावे सुख छाँव
जुड़े परस्पर दिल सभी, टले अमंगल भाव ॥७॥

शाश्वत निधि का धाम हो, क्यों बनता तू दीन
है उसको बस देख ले, निज में होकर लीन ॥८॥

## रचना काल एवं समय परिचय

खुद पर्वत थों गा रहा, ले कुण्डल आकार ।
कुण्डलगिरि में हूँ खड़ा, कौन करे नाकार ? ॥१॥

सार्थक कुण्डलगिरि रहा, सुखकर कोनी क्षेत्र ।
एक झलक में खुल गये, मन के मौनी नेत्र ॥२॥

व्यसन गगन गति गन्ध[1] की, चैत्र अमा का योग ।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ है, ध्येय मिटे भव रोग ॥३॥

(व्यसन-७, गगन-० गति-५, गंध-२, ७०५२ 'अकांना वामतो गतिः' के अनुसार वीरनिर्वाण संवत् २५०७, वि. सं. २०३७, चैत कृष्ण अमावस्या, ४ अप्रैल ८१ ई. को श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, कुण्डलगिरि (कोनी जी) पाटन, जबलपुर (म.प्र.) में रयण मंजूषा का पद्यानुवाद पूर्ण हुआ।)

# आप्त-मीमांसा

मूल : आप्त-मीमांसा (संस्कृत)
रचनाकार : आचार्य समन्तभद्र स्वामी
पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

# आप्त-मीमांसा

## मङ्गलाचरण

सन्मति को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय ।
नर-सुर-पशु गति सब मिटे, पंचम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर-चान्दनी, से जिन-धुनी अतिशीत ।
उसका सेवन मैं करूँ, मन वच तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु तक गुरु चरण, रज सर पर सुचढाय
यह मुनि, मन-गुरु-भजन में, निशदिन क्यों न लगाय ॥३॥

कुन्दकुन्द को नित नमूँ, हृदय-कुन्द खिल जाय ।
परम सुगन्धित महक में, जीवन मम धुल जाय ॥४॥

गुण-निधि समन्तभद्रगुरु, महके अगुरु सुगंध ।
अर्पित जिनपद में रहे, गन्ध-हीन मम छन्द ॥५॥

तरण ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥६॥

देवागम का मैं करूँ, पद्यमयी अनुवाद ।
मात्र प्रयोजन मम रहा, मोह मिटे परमाद ॥७॥

सर पर फिरते छतर चँबर वर स्वर्णासन पर अधर लसे ।
ऊपर से सुर उतर उतर कर तुम पद में बन भ्रमर बसे ॥
इस कारण से पूज्य हमारे बने प्रभो यह बात नहीं ।
इस विध वैभव माया-जाली भी पाते क्या ? ज्ञात नहीं ॥१॥

जरा-रहित है रोग-रहित है उपमा से भी रहित रहा ।
तव तन अकालमरणादिक से रहित रहा द्युति सहित रहा ॥
इस कारण से भी तुम प्रभु तो पूज्य हमारे नहीं बने ।
देवों की भी दिव्य देह है देव सुखों में तभी सने ॥२॥

आगम, आगमकर्ता अनगिन तीर्थकरों की कमी नहीं ।
किन्तु किसी की कभी किसी से बनती नहिं है कमी यही ॥
कौन सही फिर कौन सही ! इसीलिए सब आप्त नहीं ।
किन्तु एक ही इन सब में ही "गुरु चेता" यह बात रही ॥३॥

कहीं किसी में मोहादिक की तरतमता वह विलस रही ।
अतः ईश तुम, तुम में जड़ से अघ की सत्ता विनस रही ॥
यथा कनक-पाषाण, कनक हो समुचित साधन जब मिलता ।
चरित बोध दृग आराधन से बाह्याभ्यन्तर मल मिटता ॥४॥

सूक्ष्म रहें कुछ, दूर रहें कुछ, बहुत पुराने तथा रहें ।
पदार्थ सब प्रत्यक्ष रहे हैं किसी पुरुष के, पता रहे ॥
अनलादिक अनुमान-विषय हैं, स्पष्ट किसी को यथा रहें ।
इसीलिए सर्वज्ञ-सिद्धि हो साधु-सन्त सब बता रहें ॥५॥

"सो" तुम ही "सर्वज्ञ" रहें प्रभु, दोष-कोष से मुक्त रहें ।
बोल, बोलते युक्ति-शास्त्र से युक्त रहें उपयुक्त रहें
विसंवाद तव मत में नहिं है पक्षपात से दूर रहा ।
अन्य मतों से बाधित भी ना क्षमता से भरपूर रहा ॥६॥

अपने को सर्वज्ञ मानकर मान-दाह में दग्ध हुये ।
सदा सर्वथा मतैकान्त के क्षार-स्वाद में दग्ध हुये ॥
सुधा-सार है तव मत, जिसके सेवन से तो वंचित हैं ।
बाधित हो प्रत्यक्ष-ज्ञान से उनका मत अघ रंजित है ॥७॥



पोषक हैं एकान्त मतों के अनेकान्त से दूर रहें ।
निजके निज ही शत्रु रहें वे औरों के भी क्रूर रहें
उनके मत में पुण्य, पुण्य-फल, नहीं पापफल, पाप नहीं ।
नाथ ! मोह नहिं, मोक्ष नहीं हो, इह भव, परभव आप नहीं ॥८॥

पदार्थ सारे भावरूप ही होते यदि यूं मान रहे ।
सभी अभावों का फिर क्या हो निश्चित ही अवसान रहे ॥
सब के सब फिर विश्वरूप हो आदि नहीं फिर अन्त नहीं ।
आत्मरूप का विलय हुआ "यूं" तुम मत में भगवन्त नहीं ॥९॥

प्रागभाव का मन से भी यदि करो अनादर घोर कहीं ।
घट पट आदिक कार्यद्रव्य हो अनादि फिर तो छोर नहीं ॥
अभाव जो प्रध्वंस रूप है उसका स्वागत नहिं करते ।
कार्यद्रव्य ये नियम रूप से अनन्तता को हैं धरते ॥१०॥

रहा "परस्पर अभाव" घट पट आदिक में जो एक खरा ।
उसे न माना, विशेष बिन, सब एक रूप हों, देख जरा ॥
अभाव जो अत्यन्त रूप है द्रव्य अचेतन चेतन में ।
जिस बिन चेतन बने अचेतन चेतनता आती तन में ॥११॥

अभाव को एकान्त रूप से मान रहे वे भूल रहे ।
भावपक्ष को पूर्ण रूप से उड़ा रहे प्रतिकूल रहे ॥
प्रमाणता को आगम, अधिगम कभी नहिं फिर धर सकते ।
निजमत पोषण, परमत शोषण फिर किस विध हैं कर सकते ॥१२॥

स्याद्वाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
पदार्थ भावाभावात्मक हो ऐसा कहते तने हुये ।
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित, सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ॥१३॥

भाव रूप ही रहा कथंचित् पदार्थ को जिनमत जानो ।
वही इष्ट फिर अभावमय हो रहा कथंचित् पहिचानो ॥
उभय रूप भी, अवाच्य सो है, नहीं सर्वथा तथा रहा
विविध नयों का लिया सहारा छन्द यहां यह बता रहा ॥१४॥

अपने अपने चतुष्टयों से सत्त्व रूप ही सभी रहें ।
किन्तु सभी परचतुष्टयों से असत्त्व ही गुरु सभी कहें ॥
ऐसा यदि तुम नहीं मानते चलते पथ विपरीत कहीं ।
बिना अपेक्षा "सदसत् सब" यूं कहना यह बुध-रीत नहीं ॥१५॥

अस्तिरूप औ नास्ति रूप भी उभय रूप यों तत्त्व रहा ।
अवक्तव्य भी, तीन रूप भी शेष भंग, मय सत्त्व रहा ।
अनेकान्तमय वस्तुतत्त्व यह स्यादवाद से अवगत हो ।
विसंवाद सब मिटते इससे सुधी जनों का अभिमत हो ॥१६॥

किसी एक जीवादि वस्तु में बात तुम्हें यह ज्ञात रहे ।
अस्तिपना वह नियम रूप से नास्तिपना के साथ रहे ॥
कारण सुन लो, एक वस्तु में कई विशेषण हैं रहते ।
"सो" सहभावी ज्यों वैधर्मी सहधर्मी का, गुरु कहते ॥१७॥

किसी एक जीवादि वस्तु में बात तुम्हें यह ज्ञात रहे ।
नास्तिपना वह नियम रूप से अस्तिपना के साथ रहे ।
कारण सुन लो, एक वस्तु में कई विशेषण हैं रहते ।
"सो" सहभावी ज्यों वैधर्मी सहधर्मी का, गुरु कहते ॥१८॥

शब्दों का जो विषय बना है विशेष्य उसकी यह गाथा ।
विधि और निषेध वाला होता छन्द यहां है यह गाता
यथा अनल हो साध्यधर्म जब धूम्र हेतु हो वहाँ सही ।
किन्तु नीर जब साध्य-धर्म हो धूम्र-हेतु तब रहा नहीं ॥१९॥



इसी तरह ही शेष भंग भी साधित हो गुरु समझाते ।
समुचित नय के प्रयोग द्वारा सब उलझन को सुलझाते ॥
कारण इसमें किसी तरह भी विरोध को कुछ जगह नहीं ।
हे मुनिनायक ! तव शासन में मुनि यह रमता वजह यही ॥२०॥

इसविध निषेध-विधिवाली यह पद्धति स्वीकृत जब होती ।
बुधस्वीकृत यह वस्तुव्यवस्था कार्यकारिणी तब होती ॥
ऐसा यदि ना मान रहे तुम अर्थशून्य सब कार्य रहें ।
बाह्याभ्यन्तर साधन भी ये व्यर्थ रहें यूं आर्य कहें ॥२१॥

अनन्त धर्मों का आकर ही प्रति पदार्थ का बाना हो ।
उन उन धर्मों में पदार्थ का भिन्न भिन्न ही भाना हो ॥
एक धर्म जब मुख्य बना "सो" शेष धर्म सब गौण हुये ।
स्यादवाद का स्वाद लिया जो विवाद सारे मौन हुये ॥२२॥

एक रहा है अनेक भी है, उभय रूप भी तत्त्व रहा ।
अवक्तव्य भी शेष भंग मय विविध रूप यूं सत्त्व रहा
संशय-मथनी सप्तभंगिनी का प्रयोग यूं सुधी करें ।
उचित नयों से, नय विधान में कुशल रहें, सुख सभी वरें ॥२३॥

नित नहीं, अनित तत्त्व है मतैकान्त का यह कहना ।
अपने वचनों से बाधित है विरोध-वहाव में बहना ॥
क्योंकि कारकों तथा क्रियाओं में दिखता वह भेद रहा ।
और एक खुद, खुद का किस विध जनक रहा, यह खेद महा ॥२४॥

मानो तुम अद्वैत विश्व को पाप पुण्य दो कर्म नहीं ।
कर्म-पाक फिर सुख, दुख दो ना इह भव, परभव धर्म नहीं ।
ज्ञान तथा अज्ञान नहीं दो द्वैत-भाव का नाश हुआ ।
बन्ध मोक्ष फिर कहां रहे दो यह कहना निज हास हुआ ॥२५॥

यदि तुम मानो किसी हेतु से सिद्ध हुआ अद्वैत रहा ।
हेतु साध्य दो मिलने से फिर सिद्ध हुआ वह द्वैत रहा
अथवा यदि अद्वैत सिद्ध हो बिना हेतु यूं मान रहे ।
बिना हेतु फिर द्वैत सिद्ध हो इसविध क्यों ना मान रहे ॥२६॥

बिना हेतु के अहेतु ना हो जैसा सब को अवगत है ।
बिना द्वैत अद्वैत नहीं हो वैसा ही यह बुधमत है ।
निषेध-वाचक वचन रहें जो विधि-वाचक के बिना नहीं
निषेध उसका ही होता जो निषेध्य, जिसके बिना नहीं ॥२७॥

पृथक् पृथक् ही पदार्थ सारे ऐसा यदि एकान्त रहा ।
गुणी तथा गुण अभिन्न होते पता नहीं ? क्या भ्रान्त रहा
पृथक् नाम का गुण यदि न्यारा गुणी तथा गुण से होता ।
बहु अर्थों में "सो" है कहना विफल आपपन से होता ॥२८॥

द्रव्य रूप एकत्व भाव को नहीं मानते यदि बुध हो ।
जनन मरण आदिक किसके हो प्रेत्यलोक फिर किस विध हो ॥
और नहीं समुदाय गुणों का सजातीयता बने नहीं ।
तथा नहीं संतान शृंखला और दोष बहु घने यहीं ॥२९॥

ज्ञान ज्ञेय से भिन्न रहा यदि चिदात्म से भी भिन्न रहा
असत् ठहरते ज्ञान ज्ञेय दो सत्वत् फिर क्या ? प्रश्न रहा ॥
अभाव जब हो ज्ञान-भाव का ज्ञेय-भाव फिर कहाँ टिके ।
बाह्याभ्यन्तर ज्ञेय शून्य फिर हे जिन ! परमत कहाँ टिके ॥३०॥

समान जो सामान्य मात्र को विषय बनाते वचन सभी ।
विशेष वचनातीत वस्तु है बौद्धों का है कथन यही
अतः नहीं सामान्य वस्तुतः वचन सत्य से वंचित हो ।
ऐसे वचनों से फिर कैसे कथन कथ्य श्रुति संगत हो ॥३१॥



पृथक्पना एकत्वपना मय पदार्थ कहते तने हुये ।
स्यादवादमय न्यायमार्ग के महा विरोधक बने हुये ॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष सभी एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ॥३२॥

पृथक्पना एकत्वपना यदि भावपना को छोड़ रहें ।
दोनों मिटते क्योंकि परस्पर दोनों का वह जोड़ रहें ॥
लक्षण से तो भिन्न भिन्न हो किन्तु द्रव्यात्मक द्रव्यकथा ।
अन्वय आदिक भेद भले हो तन्मय साधन भव्य यथा ॥३३॥

सत् सबका सामान्य रूप है इसीलिए बस एक सभी ।
निज निज गुण लक्षण धर्मों से पृथक परस्पर एक नहीं ॥
कभी विवक्षित भेद रहा हो अभेद किंवा रहा कभी ।
बिना हेतु के नहीं सहेतुक बुध साधित है रहा सही ॥३४॥

यथार्थ है यह प्रति पदार्थ में अमित गुणों का वास रहा ।
वर्णन उनका युगपत ना हो वर्णों से विश्वास रहा ॥
इसीलिए वक्ता पर आश्रित मुख्य गौणता रहती है ।
मुख्य गौण भी सत ही होता असत नहीं श्रुति कहती है ॥३५॥

भेद तथा है अभेद दोनों नीति है ऐसा मत समझो ।
प्रमाण के ये विषय रहे हैं कुछ सोचो तुम मत उलझो
एक वस्तु में इनका रहना नहीं असंगत, विदित रहे ।
मुख्य गौण की यही विवक्षा जिनमत में ही निहित रहे ॥३६॥

नित्य रूप एकान्त पक्ष का यदि तुम करते पोषण हो ।
पदार्थ में परिणमन नहीं हो क्रिया मात्रका शोषण हो ॥
कर्ता किसका पहले से ही कारक का वह नाम नहीं
प्रमाण फिर क्या ? रहा बताओ प्रमाण-फल का काम नहीं ॥३७॥

प्रमाण कारक से यदि मानो पदार्थ भासित होते है ।
जैसे इन्द्रियगण से निज निज विषय प्रकाशित होते हैं
नित्य रहे हैं वैसे वे भी विकार किस में किस विध हो ।
जिन मत से जो विमुख रहें हो सुख तुम मत में किस विध हो ॥३८॥

सांख्य पुरुष सम सदा सर्वथा कार्य रहे सदरूप रहे ।
यदि यूँ कहते, किसी कार्य का उदय नहीं मुनि भूप कहे ।
फिर भी यदि तुम विकारता की करो कल्पना वृथा रही ।
नित्य रूप एकान्त पक्ष की वही बाधिका व्यथा रही ॥३९॥

पुण्य क्रिया नहिं पाप क्रिया नहिं औ सुख दुख फल नहीं रहे ।
जन्मान्तर फिर कैसा होगा मूल बिना फल नहीं रहे ।
कर्म-बन्ध की गंध नहीं जब मोक्षतत्त्व की बात नहीं ।
ऐसे मत के नायक नहिं जिन ! मुमुक्षुओं के नाथ सही ॥४०॥

क्षणिक रूप एकान्त पक्ष के आग्रह का यदि स्वागत हो ।
प्रेत्यभाव का अभाव होगा शिवसुख भी ना शाश्वत हो
स्मरणादिक ज्ञानों का निश्चित क्यों ना "सो" अवसान रहा ।
किसी कार्य का सूत्रपात नहिं फल का फिर अनुमान कहाँ ? ॥४१॥

कार्य सर्वथा असत् ही हो ऐसा तव मत मूल रहा ।
कार्य सभी आकाशकुसुम सम कभी न जनमें भूल अहा ॥
उपादान कारण सम होता कार्य नियम यह नहीं रहा ।
किसी कार्य के होने में फिर संयम भी वह नहीं रहा ॥४२॥

तथा कार्य-कारणभावादिक क्षणिक पंथ में रहे कदा ।
आपस में ना अन्वय रखते अन्य अन्य ही रहे सदा ।
जिस विध है सन्तानान्तर से भिन्न रूप सन्तान रही ।
एकमेक सन्तान नहीं है सन्तानी से जान सही ॥४३॥



पृथक्-पृथक् सब यदपि रहा पर अनन्य सा टिमकार रहा ।
और वही उपचार कहो यूं क्यों न झूठ उपचार रहा ॥
तथा मुख्य जो अर्थ रहा है कभी नहीं उपचार रहा ।
बिना मुख्य उपचार नहीं हो सन्तों का उदगार रहा ॥४४॥

सदसत् उभयानुभयात्मक जो वस्तु धर्म का कथन रहा ।
सब धर्मों के साथ उचित ना सुगत पन्थ का वचन रहा
सन्तानी सन्तान भाव से भिन्न रहा या अन्य नहीं
कह नहिं सकते अवक्तव्य है इसीलिए वृध मान्य नहीं ॥४५॥

सन्तानी सन्तानन में यदि सदादि चहुंविध कथन नहीं ।
अवक्तव्य मय वस्तु धर्म में सदादि किस विध वचन सही ॥
किसी तरह भी किसी धर्म का कथन नहीं फिर वस्तु नहीं ।
तुम्हें विशेषण विशेष्य रीता वस्तु इष्ट ही अस्तु कहीं ॥४६॥

अपने मन से होकर परमन से पदार्थ ओझल होता ।
जिस की सत्ता विद्यमान है निषेध उस ही का होता ॥
किन्तु यहाँ पर किसी भाँति भी यदि जिसका अस्तित्व नहीं ।
उसका विधान निषेध ना हो सुनो जरा वस्तुत्व यही ॥४७॥

सभी तरह के धर्मों से यदि पूर्ण रूप से रहित रहा ।
अवक्तव्य वह वस्तु नहीं हो मतैकान्त से सहित रहा ॥
आप पने से वस्तु वही पर अवस्तु पर पन से होती ।
अनेकान्त की पूजा फलतः हम से तन मन से होती ॥४८॥

अवक्तव्य हो प्रति पदार्थ में धर्म रहे कुछ औ न रहे ।
ऐसा यदि है बोल रहे क्यों बन्द रहे मुख मौन रहे ॥
यदि मानो हम बोल रहे "सो" मात्र रहा उपचार अहा ।
मृषा रहा उपचार सत्य से दूर रहा बिन सार रहा ॥४९॥

अवक्तव्य, क्यों अभाव है या उसका ही नहिं बोध रहा ।
कथन शक्ति का या अभाव है जिस कारण अवरोध रहा ॥
जब कि सुगत अति विज्ञ बली है तुम सबकी दृग खोल रहा
मायावी बन बोल रहा क्या ? लगता यह सब पोल रहा ॥५०॥

हिंसा का संकल्प किया वह कभी न हिंसा करता है ।
भाव किये बिन हिंसा करता चित्त दूसरा मरता है ॥
इन दोनों को छोड़ तीसरा चित्त बन्ध में है फँसता ।
फँसता मुक्त नहिं और मुक्त हो क्षणिक पंथ पर जग हँसता ॥५१॥

कभी किसी का नाश हुआ "सो" रहा अहेतुक सुगत कहे ।
हिंसक से हिंसा होती है यह कहना फिर गलत रहे ॥
और चित्त की सन्तति का यदि नाश मोक्ष का मूल रहा ।
समतादिक वसु साधन से हो मोक्ष मानना भूल रहा ॥५२॥

कपाल आदिक उदभव में तो हेतु अपेक्षित रहता हो ।
घट आदिक के किन्तु नाश में हेतु उपेक्षित रहता हो ॥
इन दोनों में विशेषता कुछ रही नहीं कुछ भेद नहीं ।
कहने भर को भेद रहा है हेतु एक है खेद यही ॥५३॥

रूपादिक की नामादिक की विकल्प की जो सन्तति है ।
कार्य नहीं 'सो' औपचारिकी कहती सौगत की मति है ॥
विनाश विकास फिर किसके हो तथा सततता किसकी हो ।
भला बता ! आकाशकुसुम को आँख देखती किसकी ओ ॥५४॥

स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महा विरोधक बने हुये ।
पदार्थ नित्यानित्यात्मक ही ऐसा कहते तने हुये ॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष सभी एकान्वाद में आते हैं श्रुति बता रही ॥५५॥



स्मृति पूर्वक प्रत्यक्ष ज्ञान वह बिना हेतु का नहिं होता ।
अतः प्रकाहित तत्त्व कथंचित नित्य रहा यह सुन श्रोता ॥
क्षणिक कथंचित क्योंकि उसी की प्रतिपल मिटती पर्यायें ।
कदाग्रही के यह ना बनता है जिन तव मत समझायें ॥५६॥

सभी दशाओं में ज्यों-का-त्यों द्रव्य सदा यह लसता है ।
द्रव्य कभी सामान्यरूप से नहीं जनमता नशता है ॥
पर्यायों से किन्तु जनमता क्रमशः मिटता रहता है ।
एक द्रव्य में जनन मरण स्थिति घटती, जिनमत कहता है ॥५७॥

नियम रहा यह कारण मिटता तिस्वा कार्य का मुख प्यारा ।
कारण, कारण लक्षण न्यारा तथा कार्य का भी न्यारा
किन्तु कार्य कारण दोनों की जाति एक ही है भाती ।
जाति क्षेत्र भी भिन्न रहे तो गगनकुसुम की स्थिति आती ॥५८॥

एक पुरुष तो कलश चाहता, एक मुकुट को, देख दशा ।
कलश मिटा जब मुकुट बनाया एक रुलाया एक हँसा ॥
निरख कनक की स्थिति कनकार्थी शोक किया ना नहीं हँसा ।
मिटना बनना स्थिर भी रहना रहा सहेतुक, नहीं मृषा ॥५९॥

केवल दधि का त्याग किया है दुग्ध-पान वह करता है ।
दुग्ध-पान का त्याग किया है दधि का सेवन करता है ॥
दोनों का सेवन ना करता जो है गोरस का त्यागी ।
तत्त्व त्रयात्मक रहा इसी से गुरु कहते यूं बड़भागी ॥६०॥

कार्य तथा कारण ये दोनों रहें परस्पर न्यारे हैं ।
तथा गुणी से गुण भी होते न्यारे न्यारे सारे हैं ॥
विशेष से सामान्य सर्वथा सदा भिन्न ही रहता है ।
ऐसा यदि एकान्त रूप से वैशेषिक मत कहता है ॥६१॥

एक कार्य के अनेक कारण होते यह फिर नहिं रहता ।
क्योंकि एक में भाग नहीं हैं बहुरूपों में वह बहता ।।
एक कार्य यदि बहु भागों में भाजित हो फिर एक कहाँ ?
कार्य-विषय में पर-मत में यूं दोषों का अतिरेक रहा ।।६२।।

कार्य तथा कारण ये न्यारे देश-काल वश भी न्यारे ।
घट पट में ज्यों भेदात्मक व्यवहार रहा है सुन प्यारे ।।
तथा मूर्त सब कार्य कारणों की स्थिति पूरी जुदी रही ।
उसमें फिर वह एक देशता कभी न बनती सही रही ।।६३।।

कार्य तथा कारण में होता आश्रय-आश्रयि भाव रहा ।
समवायी-समवाय-बन्ध तब स्वतंत्र ना यह भाव रहा ।
बन्ध-रहित संबंध रहा यह तुम में सब निर्बन्ध अरे ।
समवायी-समवाय निरे जब आपस में कब बन्ध करे ।।६४।।

नित्य एक सामान्य रहा है उसी भाँति समवाय रहा ।
एक एक अवयव में व्यापे यह जिन का व्यवहार रहा ।।
आश्रय के बिन रह नहिं सकते फिर इनकी क्या कथा रही ।
मिटती बनती क्षणिकाओं में कौन व्यवस्था बता सही ।।६५।।

भिन्न रहा समवाय सर्वथा तथा भिन्न सामान्य रहा ।
आपस में फिर बन्धन इनका किस विध कब वह मान्य रहा ।
इनसे फिर गुण पर्ययवाले पदार्थ का भी बन्ध नहीं ।
फिर क्या कहना, गगनकुसुम सम तीनों की ही गन्ध नहीं ।।६६।।

अणु अणु मिलकर स्कन्ध बने ना चूंकि सभी वे निरे निरे
स्कन्ध बने तो अविभागी ना रह सकते अणु निरे परे ।।
अवनि अनल औ सलिल अनिल ये भूतचतुष्टय भ्रान्ति रही ।
अन्यपना या अनन्यपन मय मतैकान्त में शान्ति नहीं ।।६७।।



कार्य-मात्र की भ्रान्ति रही तो अणु स्वीकृति भी भ्रान्ति रही ।
क्योंकि कार्य का दर्शन ही तो कारण का अनुमान सही ।।
भूत चतुष्टय और अणु का जब अभाव निश्चित होता हो ।
उनके गुण-जात्यादिक का वह वर्णन क्यों ना ? थोथा हो ।।६८।।

एकमेक यदि कार्य करम हो एक मिटे इक शेष रहा ।
इनमें अविनाभाव रहा "सो" रहा शेष निश्शेष अहा ।।
दो की संख्या भी नहिं टिकती यदि मानो वह कल्पित है ।
कल्पित सो मिथ्या मानी है मात्र सांख्य-मत जल्पित है ।।६९।।

स्यादवादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
गुण, गुणधर आदिक उभयात्मक ऐसा कहते तने हुये ।।
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष सभी एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ।।७०।।

द्रव्य तथा पर्यायों में वह रहा कथंचित् ऐक्य सही ।
कारण ? दोनों का प्रदेश है एक रहा व्यतिरेक नहीं ।।
परिणामी परिणाम रहे हैं द्रव्य तथा ये पर्यायें ।
शक्तिमान यदि द्रव्य रहा तो रहीं शक्तियाँ पर्यायें ।।७१।।

इसी तरह इन दोनों का बस भिन्न-भिन्न ही नाम रहा ।
संख्या इनकी निरी निरी है न्यारे लक्षण काम रहा ।।
यथार्थ में यह अनेकान्त से बनता सुन नानापन है ।
परन्तु हा ! एकान्त पक्ष में तनता मनमानापन है ।।७२।।

गुणी गुणादिक सदा सर्वदा आपेक्षिक यदि साधित हों ।
दोनों कल्पित होने से वे सिद्ध नहीं हो बाधित हों ।।
अनपेक्षिक ही सिद्धि उन्हीं की ऐसा यदि तुम मान रहे ।
विशेषता सामान्य पना ना सहचर का अवसान रहे ।।७३।।

स्याद्वाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
आपेक्षिक अनपेक्षिक द्वयमय ''पदार्थ'' कहते तने हुये ॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही
दोष सभी एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ॥७४॥

धर्म बिना धर्मी नहिं धर्मी के बिन भी वह धर्म नहीं ।
रहा परस्पर अन्वय इनका आपेक्षित है मर्म यही ॥
स्वरूप इनका किन्तु स्वत: है ज्ञापक कारक अंग यथा ।
ज्ञान स्वत: तो ज्ञेय स्वत: है कर्म-करण निजरंग कथा ॥७५॥

हेतु मात्र से तत्त्व ज्ञात हो सिद्ध हो रहे काम सभी ।
इन्द्रिय आगम आप्तादिक फिर व्यर्थ रहे कुछ काम नहीं ॥
या आगम से तत्त्व ज्ञात हो सबके आगम मौलिक हो ।
उनमें वर्णित पदार्थ-सारे लौकिक भी पर लौकिक हो ॥७६॥

स्यादवादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
तत्त्व ज्ञात हो शास्त्र, हेतु से ऐसे कहते तने हुये ॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष सभी एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ॥७७॥

वक्ता यदि वह आप्त नहीं तो वस्तु तत्त्व का बोध न हो ।
मात्र हेतु से साधित जो है बोध नहीं वह बोझ अहो !
परन्तु वक्ता आप्त रहा तो वचन उन्हीं के शास्त्र बने ।
उन शास्त्रों से तत्त्व ज्ञात कर भविक सभी सुख-पात्र बने ॥७८॥

भीतर के निज-ज्ञान मात्र से जाने जाते अर्थ रहें ।
ऐसा यदि एकान्त रहा तो मनस वचन सब व्यर्थ रहें ॥
उपदेशादिक प्रमाण नहिं फिर सभी प्रमाणाभास रहे ।
एकान्ति आग्रह करने से अपना ही उपहास रहे ॥७९॥



साध्य तथा साधन का तब भी ज्ञान हमें जो होता है ।
मात्र रहा वह ज्ञान एक है और नहीं कुछ होता है ।
ऐसा यदि एकान्त रहा तो कहाँ साध्य फिर साधन हो ।
और, पक्ष में साध्य-दर्शिका निजी-प्रतिज्ञा बाधक हो ॥८०॥

बाह्य अर्थ परमार्थ रहे हैं अंतरंग कुछ खास नहीं ।
ऐसा यदि एकान्त रहा तो रहा प्रमाणाभास नहीं ॥
वस्तु-तत्त्व का कथन यद्यपि तो यहा तहा करते हैं ।
उन सब के सब कार्य सिद्ध हों विनय सहित कहते हैं ॥८१॥

स्यादवादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
बाह्याभ्यन्तर उभय रूप है 'पदार्थ' कहते तने हुये ॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ॥८२॥

बना ज्ञान जब ज्ञेय स्वयं का अन्तरंग में रहता है ।
रहा प्रमाणाभास लुप्त तब यही जिनागम कहता है ॥
किन्तु ज्ञान जब बाह्य अर्थ को ज्ञेय बनाता तनता है ।
बने प्रमाणाभास वही तब प्रमाण भी बस बनता है ॥८३॥

कहा, 'नीर' यह शब्द रहा यह बाह्य अर्थ से सहित रहा ।
हेतु शब्द क्यों नाम रहा है निजी अर्थ से विहित रहा ॥
अर्थ शून्य मायादिक का ही नामकरण हो नहिं ऐसा ।
प्रणाम का भी नाम रहा है सार्थक मायादिक वैसा ॥८४॥

बुद्धि तथा वह शब्द, अर्थ ये संज्ञायें हैं गुरु कहते ।
बुद्धयादिक के वाच्यभूत जो वाचक बन करके रहते ॥
उन उन सम हो बुद्धयादिक ये बोधरूप भी तीन रहें ।
उनको भासित करते दर्पण में पदार्थ आ लीन रहें ॥८५॥

वक्ता श्रोता ज्ञाता के जो बोध वचन है ज्ञान तथा ।
न्यारे न्यारे रहे कथंचित् क्रमशः सुन तू मान तथा ॥
यदि मानो वे रहीं भ्रान्तियाँ प्रमाण भी फिर भ्रान्त रहा ।
बाह्याभ्यन्तर भ्रान्त रहे तो अन्धकार आक्रान्त रहा ॥८६॥

शब्दों में भी तथा बुद्धि में प्रमाणता तब आ जाती ।
बाह्य अर्थ के रहने पर ही, नहीं अन्यथा, श्रुति गाती ॥
तथा सत्य की असत्यता की रही व्यवस्था यही सही ।
अर्थ-लाभ में अलाभ में यों क्रमशः, वरना ! कभी नहीं ॥८७॥

दैव दिलाता सभी सिद्धियाँ ऐसा कहता पता चला ।
पौरुष किसविध दैव-विधाता हो सकता तू बता भला ॥
दैव दैव को मनो बनाता मोक्ष कभी फिर मिले नहीं ।
व्यर्थ रहा पुरुषार्थ सभी का मोह कभी फिर हिले नहीं ॥८८॥

पौरुष से ही सभी सिद्धियाँ मिलती कहता तू ऐसा ।
भला बात दैवानुकूल ही पौरुष चलता यह कैसा ॥
पौरुष से ही सदा सर्वथा पौरुष आगे यदि चलता ।
सभी जीव पुरुषार्थशील हैं सबका पौरुष कब फलता ॥८९॥

स्यादवाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
दैव तथा पौरुष दोनों का आग्रह करते तने हुये ॥
अवाच्यमत में अवाच्य कहना भी अनुचित, सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ॥९०॥

अबुद्धि पूर्वक जीवात्मा का पौरुष जब वह चलता है ।
सुख दुख का जो भी मिलना है वही दैव का फलना है ॥
किन्तु बुद्धिपूर्वक जीवात्मा पौरुष जब वह करता है ।
तब जो सुख दुःख मिलता, समझो, पौरुष से वह झरता है ॥९१॥



पर को दुःख देने भर से यदि पापकर्म ही बँधता है ।
पर को सुख पहुँचाने से यदि पुण्य कर्म ही बँधता है ॥
कई अचेतन विष आदिक औ कषाय विरहित मुनि त्यागी ।
निमित्त दुःख सुख में होने से पाप पुण्य के हों भागी ॥९२॥

जिससे निज को सुख होता सो पाप-बन्ध का कारण है ।
जिससे निज को दुःख होता सो पुण्य-बन्ध का कारण है ॥
ऐसा यदि एकान्त रहा तो विराग मुनि औ बुध जन भी ।
क्यों ना होंगे दोनों क्रमशः पुण्य-पाप के भाजन ही ॥९३॥

उभय रूप एकान्त मान्यता स्वयं बना कर तने हुये ।
स्यादवाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ॥९४॥

यदा कदा अपने में या पर में जो सुख दुःख हो जाते ।
क्रमशः विशुद्धि संक्लेशों के सुनो अंग वे कहलाते ॥
यही एक कारण पा आस्रव पुण्य पाप का हो जाता ।
वरना आस्रव तत्त्व कहाँ हो अरहन्तों का "मत" गाता ॥९५॥

कर्मबन्ध अज्ञानमात्र से होता यूं यदि मान रहा ।
ज्ञेय रहें "सो अनन्त" फिर क्यों होगा केवलज्ञान महा ॥
अल्प ज्ञान से मोक्ष मिले यदि ऐसा कहना "अन्ध" अहा ।
बहुत रहा अज्ञान, इसी से मोक्ष नहीं, विधि-बन्ध रहा ॥९६॥

उभयरूप एकान्त मान्यता स्वयं बना कर तने हुये ।
स्यादवाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ॥
अवाच्यमत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ॥९७॥